ख़ौफ़ का उन्माद: सिनेमा की शहरी बेचैनी

रवि वासुदेवन

अस्सी का दशक मुंबई शहर के लिए बहुत मानीख़ेज़ बदलावों का दशक था। इस वक़्फ़े में जहाँ एक ओर कपड़ा मिलों की ऐतिहासिक हड़ताल नाकाम हुई वहीं शहर की राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने भी एक नयी शक्ल अख़्तियार की। इस दौर में उत्पादन की फ़ैक्ट्री केन्द्रित प्रणाली की जगह अनौपचारिक केन्द्रों ने ले ली, और राजनीति में मज़दूरों की भूमिका हाशिए पर सिमट कर रह गयी। वामपंथी राजनीति और नज़रिए के लिए यह संकट की घड़ी थी। ठीक इसी वक़्त स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दुत्वादी राजनीति का शंखनाद हुआ। राज्य की राजनीति में शिव सेना जैसी घोर दक्षिणपंथी ताक़त का पदार्पण भी इसी दौर की बात है। दरअसल राजनीति का यह क्षेत्रीय तेवर एक देशव्यापी हिन्दू राजनीतिक लामबंदी का अंग था जिसे भाजपा और उसके हमदर्द संगठनों ने पाल-पोसकर बड़ा किया था। सन 1992-93 के दौरान शहर की मुस्लिम आबादी पर जिस संगठित ढंग से हमले किए गए उसे हिन्दुत्व के इस उभार की परिणति के रूप में देखा जाना चाहिए। इन हमलों के कुछ हफ़्तों बाद मुंबई में बम विस्फोट हुए। इन विस्फोटों को बदले की कार्रवाई कहकर प्रचारित किया गया। और इसके लिए मुस्लिम अंडरवर्ल्ड को ज़िम्मेदार ठहराया गया। लेकिन मुंबई शहर जहाँ एक तरफ़ इन राजनीतिक भूचालों से जूझ रहा था वहीं उसे देश के अन्य शहरों की तरह नए ढंग से गढ़ा भी जा रहा था। यह वह दौर था जिसमें मुंबई समेत देश के तमाम शहरों को विदेशी पूंजी निवेश की ज़रूरतों के मुताबिक़ पुर्नव्यवस्थित किया जा रहा था। शहर को खुला बनाने और वहाँ से भीड़ हटाने की इस मुहिम की मार सबसे ज़्यादा फेरीवालों, फ़ुटपाथियों, छोटे-मोटे दुकानदारों और दस्तकारों पर पड़ी।

इस शहरी बेचैनी को रुपायित करने वाले शहर और राष्ट्र की छवियाँ सिनेमा में भली-भाँति देखी जा सकती हैं। वास्तव में सिनेमा में इस विक्षोभ और रुपांतरण को साफ़-साफ़ पढ़ा जा सकता है। लेकिन इन दोनों चीज़ों के बीच किसी सरल और सपाट संबंध को देखना सिनेमा के विभिन्न रूपों, स्रोतों और सामाजिक छवियों को नज़रअंदाज़ करना होगा। अगर हम शहर के रुपांतरण और शहरी बेचैनी के बीच एक सीधा-सा संबंध बनाना चाहेंगे शहर के सिनेमाई अनुभव की जटिलताएँ हमारे दायरे से छूट जाएँगी। प्रस्तुत आलेख में हमने फ़िल्म के आख्यान, उसके

रूप और इतिहास का विशेष अध्ययन किया है। और इस अध्ययन का ख़ास संदर्भ यह है कि सिनेमा शहर को किस प्रकार हमारी संवेदना जगत का हिस्सा बनाता गया है। इस आलेख में कुछ ऐसे ही पहलुओं पर नज़र डालने और उससे संबंधित अन्य पक्षों को समझने की कोशिश की गयी है।

इस आलेख में हमने मुख्यतः शहर विषयक ऐक्शन फ़िल्मों पर ज़्यादा ध्यान दिया है और अध्ययन के इस प्रयास में हमने कहानी कहने के ढंग और अचरज पैदा करने वाले दृश्यों को गढ़ने की तकनीक समझने की कोशिश की है। ये तमाम पहलू फ़िल्म में भय और ख़तरे की स्थितियों से जुड़ कर सामने आते हैं। मनोरंजन के इन विभिन्न रूपों - क़िस्मों तथा दर्शकों के बीच हम एक विरोधाभासी संबंध देखते हैं। फ़िल्म मनोरंजन के जिस संसार को गढ़ती है उसमें दर्शक एक तरह से फ़िल्म द्वारा दिखाए गए बेचैन आख्यान में प्रवेश करते हैं। इस तरह देखा जाए तो सिनेमा दर्शकों के सामने एक ऐसी स्थिति या छवि प्रस्तुत करता है जहाँ वे ख़ुद को ख़ौफ़ और भय से भरी दुनिया से रू-ब-रू पाते हैं। दर्शकों के लिए यह अनुभव दुचित्ता होता है। दरअसल फ़िल्म की यह शैली मूलतः इसी बात को संप्रेषित करने के लिए ईजाद की जाती है।

कथा-रूपों का रूपांतरण

ऐक्शन फ़िल्मों की शैली और ख़ास तौर पर समकालीन सिनेमा का सबसे महत्त्वपूर्ण बदलाव आख्यान की संरचनाओं में लक्षित किया जा सकता है। यह पहले के स्याह-सफ़ेद विभाजन से बिल्कुल जुदा चीज़ है। मैनाक बिश्वास के अनुसार इन फ़िल्मों में पूरब-पश्चिम, शहर-देहात, पुलिस-अंडरवर्ल्ड, यहाँ तक कि सार्वजनिक और निजी दुनिया के बीच का विभाजन लगभग समाप्त हो गया है। इस काल की फ़िल्मों की संवेदना का उत्खनन करते हुए रंजनी मजुमदार बंबइया सिनेमा के आठवें दशक के मध्य में शहरी व्यक्ति के अंदरुनी संसार, उसकी बेचैनी और चिंताओं की ओर ध्यान देती हैं। उल्लेखनीय है कि इस दशक के मध्य में बंबइया सिनेमा इसी शहरी आत्म से जूझ रहा था। फ़िल्मों की यह संवेदना देहात के सुंदर और बीते हुए कल को चित्रित तो ज़रूर करती है लेकिन यह संवेदना एक गुज़रती हुई पृष्ठभूमि से ज़्यादा महत्त्व नहीं रखती। विधु विनोद चोपड़ा की फ़िल्म 'परिन्दा' (1989) के पात्र एक ऐसे ही अतीत से निकल कर शहर का सामना करते हैं। शोहिनी घोष भी अपने विश्लेषण में आख्यान के संसार और संरचनाओं में मिथकीय छवियों के टूटने और एक तरह के स्याह-सफ़ेद क़िस्म के प्रतीकवाद के क्षरण की ओर इशारा करती हैं। वे इस रुपांतरण का अध्ययन करते हुए वैध-अवैध हीरो की छवियों का उल्लेख करती हैं और करण-अर्जुन जैसे पात्रों की छवियों की ओर संकेत करती हैं। पात्रों के इस समकालीन संसार में करण और अभिमन्यु के चरित्र खंडित के बजाय दोहरी

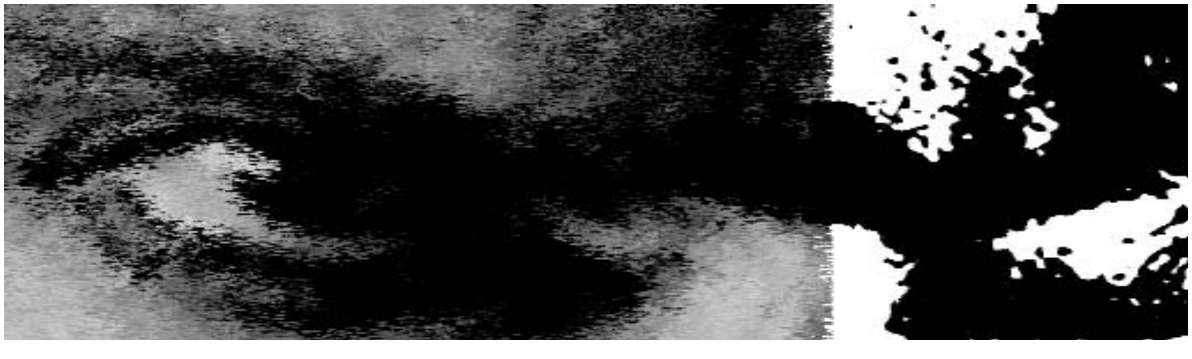

संवेदनशीलता और व्यथित आत्म के शिकार ज़्यादा नज़र आते हैं।[1] यहाँ अभिमन्यु का चरित्र इस मायने में कुछ ज़्यादा ही प्रासंगिक कहा जाएगा कि वह वैध संतान होने के बावजूद परिस्थितियों का पूरा ज्ञान हासिल नहीं कर पाता। वह एक ऐसी स्थिति का दास बना रहता है जिसके चलते वह एक सुरक्षित, स्थायी और जानी-पहचानी जीवन स्थिति और संकटों, ख़तरों और शत्रुतापूर्ण स्थितियों के बीच सामंजस्य बना सके।

समकालीन शहर की कल्पना में दो विरोधी स्थितियों या स्थानों, ख़ास तौर पर बाहर और भीतर या सार्वजनिकता और निजता के बीच का तुलनात्मक संबंध दर्शक के सामने एक अस्पष्ट या धुंधले रूप में आता है। नब्बे के दशक की एक बेहद लोकप्रिय फ़िल्म 'बाज़ीगर' का उदाहरण लें (अब्बास-मस्तान, 1994)। इस फ़िल्म में एक निम्नवर्गीय पात्र तरह-तरह के स्वांग रच कर ख़ुद को उच्च वर्ग में शामिल करता है। हालाँकि फ़िल्म में दौलत की क़ानूनी जंग और उसे लेकर लोगों के बीच होने वाली गलाकाट लड़ाई को दिखाया गया है। लेकिन एक सामाजिक वर्ग की करतूतों, उसके दाँव-पेंच को उघाड़ने की तकनीक फ़िल्म के नायक को एक ऐसी अनैतिकता और ग़ैर-इंसानी तर्क की ओर ले जाती है जिसकी परिणति मौत और आत्मसंहार में होती है। इस बात में कोई शक नहीं है कि समकालीन सिनेमा में नायक और समाज की जो परिकल्पना प्रस्तुत की गयी है वह एक अस्थिर और ख़तरनाक आत्म को रचती है। समकालीन सिनेमा का यह पहलू हमें स्पेस और मुद्राओं की एक तरलता की ओर ले जाता है। इस तरह हम प्रतीकात्मक स्पेस और मुद्राओं की तरलता को पहचानते हैं जिसकी वजह से फ़िल्म के आख्यान से दर्शकों को भावनात्मक और रागात्मक संबंध और पात्रों, घटनाओं से हम आहंगी को चोट पहुँचती है। (महमूह से पूछना है)

ज्ञान के नए रूप

आख्यान के इन मोटे प्रतीकों के अलावा भी कुछ और मुद्दे हैं, पहचानने और समझने जानने के प्रारूप और ज्ञान के स्वरूप, जिनसे शहरी चिंताओं के गद्य तय होते हैं। इस संबंध में यह देखना महत्त्वपूर्ण होगा कि फ़िल्म के विभिन्न पात्रों के बीच दर्शक कैसे तालमेल बिठाता है या वह इन सभी पात्रों पर किस-किस तरह ध्यान देता है। इन फ़िल्मों में पहले की फ़िल्मों की तरह अच्छे-बुरे का विभाजन ख़त्म हो गया है या कम से कम इन समकालीन फ़िल्मों से यह तो ज़ाहिर होता ही है कि अच्छे और बुरे पात्रों का पहले वाला फ़्रेम अब बहुत कारगर नहीं रह गया है यानी इस मुहावरे से शहरी जीवन के नए पेंच-ओ-ख़म को सही ढंग से नहीं समझा जा सकता। इस प्रक्रिया में हम देखते हैं कि एक सर्वव्यापी आतंक हर व्यक्ति को घेरे हुए है और यह आतंक शहरी जीवन का स्थायी हिस्सा बन गया है। 'परिन्दा' फ़िल्म में केंद्रीय पात्रों की बजाय फ़ोकस एक तमिल गैंग्स्टर अन्ना पर जा टिका है। इस फ़िल्म में केन्द्रीय पात्रों की अच्छाई या नैतिकता दिखाने के बजाय अन्ना नाम के एक खलनायक को ज़्यादा महत्त्व दिया गया है। इस खलनायक की विक्षिप्तता दर्शकों को बिल्कुल नए ढंग से लुभाती है। यह देखना दिलचस्प होगा कि फ़िल्म में जो दृश्य अन्ना की विक्षिप्त मानसिकता का चित्रण करते हैं वे एक दूसरे के विरोधाभासी हैं। इस संबंध में हम अन्ना द्वारा अपनी पत्नी और बच्चे को ज़िन्दा जलाने के दृश्य को ले सकते हैं। फ़िल्म से हमें यह पता नहीं चलता कि ख़ुद अन्ना ने अपनी पत्नी और बच्चे को मारा था या वह महज़ इस त्रासदी का दर्शक भर था। साथ ही हमें यह भी पता नहीं चलता कि यह सब उसकी असामान्य मनोदशा की अभिव्यक्ति मात्र थी या इस त्रासदी ने अन्ना को पागलपन का शिकार बना दिया था। एक ऐसा पागलपन जो अन्ना को हर हालत में ज़िन्दा रहने और दूसरे

लोगों पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए मजबूर किए रहता है। [इस अर्थ में यह फ़िल्म तमिल प्रवासन और हिंसात्मक मुखरता की एक और कहानी मणिरत्णम की 'नायकन' (1987) का डिस्टोपियन वर्णन करती है गो इस तरह से कि तमिल समुदाय का दबा हुआ अस्तित्व छुप जाता है।] जीबेश बागची कहते हैं कि अंततः इस फ़िल्म में सत्ता का केंद्र मूसा बन जाता है। मूसा षड्यंत्र करने और दूसरों की कमज़ोरियों का फ़ायदा उठाने में माहिर है लेकिन इसके अलावा सारी फ़िल्म में उसकी भूमिका हाशिए की है। यहाँ तक कि अपने पूरे चरित्र चित्रण में वह एक पात्र कम षड्यंत्रकारी दिमाग़ ज़्यादा दिखायी देता है। बेशक यहाँ हम फ़िल्म के आख्यान में सत्ता का एक दूसरा ही स्तर देखते हैं। इस फ़िल्म में पात्रों की दुनिया के अलावा एक ऐसी भी दुनिया है जिसमें आख्यान के संसार का समय और स्पेस अलग ढंग से बनाया जाता है और आख्यान के पात्रों को अलग-अलग भूमिका दी जाती है। शहरी बेचैनी के इस सिनेमा में अब इस चीज़ को चाहे हम पूर्व प्रचलित रूढ़ि का रूपांतरण कहें या पात्रों के अपने जीवन के घात-प्रतिघातों से पैदा होने वाली स्थिति। एक बात स्पष्ट है कि फ़िल्म की घटनाओं और परिस्थितियों की जानकारी का अपने लाभ के लिए इस्तेमाल करना एक ऐसी चीज़ है जो शहर में ख़ौफ़ या भय के स्रोत को पूरी तरह नहीं पहचानने देती। भय या संहार का यह स्रोत पूरी तरह समझ में नहीं आता। वह हमेशा एक अजीब से अंधाकारपूर्ण स्पेस में छिपा रहता है।

स्पेस की धारणा

यहाँ से हम एक दूसरे विषय की ओर बढ़ते हैं और वह यह है कि शहरी जीवन के सिनेमाई अनुभव में प्रमुख और गौण स्पेस के संबंधों को आख्यान के प्रतीक और उसकी शैली कैसे परिकल्पित करती हैं। यहाँ हम जिस शहरी जीवन के मानचित्र की बात कर रहे हैं उससे हमारा मतलब है पुलिस स्टेशन, अदालत, अपराधी संगठनों की दुनिया, घर, मोहल्ला, बाज़ार और गलियाँ यानी वह सब जो एक्शन फ़िल्मों में 'समाज' के दायरे में होने वाली हिंसा और प्रति हिंसा को भौतिक संदर्भ प्रदान करता है। इस शहरी आतंक या ख़ौफ़ या डर के मीज़ो-सेन में जो बात बेहद महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि फ़िल्म के पात्र कहीं भी किसी भी स्थान पर ख़ुद को सुरक्षित महसूस नहीं करते। कहीं कोई नज़र है जो उन पर हमेशा लगी रहती है। इन पात्रों की दुनिया में कोई ऐसी जगह नहीं है जहाँ उन्हें ख़तरें की आहटें सुनायी न देती हों।

'परिन्दा' फ़िल्म के स्पेसियल विश्लेषण में मजूमदार ने दिखाया है कि घरेलू माहौल भी अपराध में लिप्त बड़े भाई और अंडरवर्ल्ड के सरगना अन्ना की छाया से आक्रांत है। अपने विश्लेषण में मजूमदार दिखाती हैं कि फ़िल्म में जहाँ कहीं प्रेम और गृहस्थ सुख या आनंद की संभावनाएँ बनती दिखती हैं वहाँ भी एक सर्वव्यापक भय की छाया मंडराती रहती है। युवा नव दंपत्ति करण और पारो का प्रेम भी लगातार आतंक की इस छाया से ग्रस्त है। बीच-बीच में यह एक अनजाना ख़तरा उनके दांपत्य के एकांत में जब-तब प्रवेश करता रहता है और अंततः उनकी मौत पर जाकर ख़त्म होता है। लेकिन इस फ़िल्म की ख़ास बात यह है कि पात्रों का आंतरिक आयतन भी हमारे सामने पुनर्परिभाषित होता चलता है। यह आतंक सिर्फ़ नव दंपत्ति को ही त्रस्त नहीं करता बल्कि अन्ना यानी मुख्य हमलावर भी इससे जूझता रहता है। अन्ना को लगातार अतीत की त्रासदियाँ मथती रहती हैं। एक काली नियति की आहटें लगातार उसके मानस पर दस्तक देती रहती हैं। मजुमदार बताती हैं कि फ़िल्म की शुरुआत में ही अन्ना स्वयं अपने परिवार के एक फ़ोटो को माला पहनाता है। यह स्वयं और अपने परिवार को श्रद्धांजलि देने जैसा है - एक ऐसा चित्र जो पहले से ही रोज़मर्रा के जीवन से दूर की झलक दिखाता है। यह एक ऐसा चित्र

है जिसमें हम खलनायक के आंतरिक संसार को एक सर्द, बेरहम ख़ौफ़ से घिरा देखते हैं।

इरा भास्कर ने इस फ़िल्म के एक और पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। वे बताती हैं कि फ़िल्म में आतंक के मीज़ो-सेन और गॉथिक पृष्ठभूमि की एक शृंखला सी दिखायी देती है। अन्ना की फ़ैक्ट्री की दुनिया अंधेरी जगहों, जालों से ढंके कोनों-अंतरों से लथपथ है। यह जगह एक ऐसे स्पेस का निर्माण करती है जो फ़िल्म के आख्यान संसार के आंतरिक तर्क को मूर्त करती है। फ़ैक्ट्री में कहने के लिए तो तेल का उत्पादन किया जाता है परंतु वास्तव में यहाँ से नशीली दवाइयों की आपूर्ति की जाती है। यह फ़ैक्ट्री लाशों की असेंबली लाइन दिखायी पड़ती है। सच बात तो यह है कि इस स्पेस में घुसते हुए ऐसा लगता है जैसे कि हम मृत्यु की प्रक्रिया से रू-ब-रू हो रहे हों - एक ऐसा गोपनीय दृश्य जो शहर की भीतरी सच्चाई का निर्माण करता है। इस फ़ैक्ट्री में मनुष्य की देह को ड्रिल से काटा-पीटा जाता है और ख़ून तथा मांस के थक्कों को कबाड़ के साथ रफ़ा-दफ़ा कर दिया जाता है। लेकिन अंततः ये घायल और मृत शरीर अपने साथ हुए अन्याय का बदला लेने के लिए जैसे दोबारा लौट आते हैं। अन्ना के दाएँ हाथ अब्दुल की लाश एक ताबूत में पड़ी है। यह लाश किशन का उपहास उड़ाती दिखती है। इस दृश्य में नायक की देह को ताबूत के साथ फ़्रेम किया गया है। इस दृश्य में नायक की देह में एक हरकत सी होती है। यह हरकत दरअसल नियति के खेल की हरकत है। नायक इस क्षण में महसूस करता है कि शहर के हाशिए पर शुरू हुई उसकी यह ज़िन्दगी अंततः उसके भाई की मौत पर जाकर ही ख़त्म होगी। लेकिन विडंबना यह है कि मौत की यह फ़ैक्ट्री अंततः एक आराम की जगह या कहें तो सराय-सी दिखने लगती है। एक ऐसी जगह जहाँ शहरी ज़िन्दगी से लहू-लुहान पात्र और एक बेघर दुनिया में बेठौर घूमने वाले लोग थोड़ी देर के लिए क़याम करने आते हैं। फ़्रॉयड ने जिस शब्द अनहेम लिच का इस्तेमाल किया है वह इसी अनजाने दूरस्थ ख़ौफ़नाक लेकिन फिर भी एक घर की तरह लगते स्थान की ओर इशारा करता है।

आख्यान के संसार में स्थित ये अमूर्त स्थान एक ख़ास ढंग का अर्थ ग्रहण करते हैं। लेकिन फ़िल्म में ये दृश्य शैली के लिहाज़ से काफ़ी विस्तृत भी हैं और इनमें अंतर्राष्ट्रीय शैली की कई छटाएँ देखी जा सकती हैं। मजूमदार ने त्रासदी के इस आख्यान और अमेरिका के युद्धोत्तर सिनेमा - फ़िल्म नोयर[3] के बीच बड़ी दिलचस्प तुलना की है। मजूमदार इस तुलनात्मक अधययन में बताती हैं कि युद्धोत्तर सिनेमा में सड़कें छायाओं में लिपटी नज़र आती हैं। रात के समय शहर में लोग नहीं बल्कि एक अनजानी-सी भीड़ टहलती रहती है और आतंक के इस दृश्य को उभारने के लिए एक ऐसे साउंड ट्रैक का इस्तेमाल किया जाता है जिसमें न जाने कहाँ फ़ोन की घंटियां घनघनाती रहती हैं। ये सारी चीज़ें एक आसन्न ख़तरे की ओर इशारा करती हैं। मेरा मानना है कि ख़ौफ़ की संरचना के सूत्र समकालीन शहर के लिए एकदम नयी चीज़ नहीं बल्कि उनकी एक ऐतिहासिकता है। यहाँ नियति और उसकी अभिव्यक्ति एक ऐसी सत्ता के रूप में प्रकट होती है जो हर वक़्त पात्र की पहुँच से दूर बनी रहती है। यह नियति उस समाज का प्रतिरूप है जो पूरी

तरह बदल गया है। यह नियति हमें इस सार्वजनिकता के अंदरूनी संसार से मुख़ातिब कराती है।

सिनेप्रेम और इतिहास

यहाँ हम इतिहास के दो रूपों से रू-ब-रू होते हैं। एक वह इतिहास जिसे हम आम तौर से जानते हैं और एक सिनेमा के इतिहास से। ललिता गोपालन बताती हैं कि इस दौर में भारत में वैश्विक सिनेमा की पहले के मुक़ाबले ज़्यादा पहुँच हो गयी थी। इस संदर्भ में वे एक लंबी रोक के बाद अमेरिकी सिनेमा के आयात और वीडियो बाज़ार के ज़रिए अमेरिकी फ़िल्मों के प्रसार के साथ-साथ फ़िल्म और टेलीविज़न संस्थान के प्रशिक्षुओं के फ़िल्म उद्योग में प्रवेश की ओर इशारा करती है।[4] यहाँ सिनेमा के वैश्विक प्रसार के महत्त्वपूर्ण कालखंडों के बीच अंतर करना आवश्यक होगा। कहने की ज़रूरत नहीं है कि सिनेमा की शुरुआत से ही विभिन्न देशों के बीच फ़िल्मों का आदान-प्रदान होता रहा है और यह आदान-प्रदान कुछ इस ढंग से हुआ है कि वैश्विक सिनेमा का मतलब अमेरीकी सिनेमा तक सीमित होना नहीं रहा है। लेकिन फ़िल्म एवं टेलीविज़न संस्थान के प्रशिक्षुओं के फ़िल्म उद्योग में प्रवेश करने से एक नए रुपांतरण की शुरुआत होती है। इस संबंध में देखें तो फ़िल्म 'नोआ' (Noir) इतिहास की कोई दूरस्थ परिघटना नहीं है बल्कि फ़िल्म के स्रोत के रूप में वह एक ऐसी परिघटना है जिसके नक़्श समकालीनता में मूर्त हुए हैं।

बंबइया सिनेमा में भी इन औपचारिक रूपांतरणों या नयी अवस्थाओं को देखा जा सकता है। सत्तर के दशक में फ़िल्मों में एक नया शहर केंद्रित चरित्र उभरा। यह एक ऐसा चरित्र था जो क़ानून और समाज के पूर्वस्थापित श्रेणी विभाजन में सट नहीं पा रहा था। इस दौर की फ़िल्में बंबई को नए ढंग से चित्रित करती हैं। पहले की फ़िल्में आमतौर पर विक्टोरिया टर्मिनल, मरीन ड्राइव या हाई कोर्ट के दृश्यों के माध्यम से बंबई को मूर्त करती थी। लेकिन इस दौर का सिनेमा बंबई शहर को कुछ अलग तरह के दृश्यों से रचने लगा। अब फ़िल्मों में स्थान की भौतिक यथार्थपरकता दिखाने की बजाय शहर एक ऐसा मंच बन गया जहाँ नए ढंग के अस्तित्वगत संघर्ष और व्यक्ति की भीतरी दुनिया रुपायित होने लगी। फ़िल्मों के इस नए सौंदर्यबोध में शहर की पृष्ठभूमि फैल कर फ़िल्म के ऐक्शन और किरदारों की अंदरूनी दुनिया की ज़मीन बन गयी। इस बात को समझने के लिए फ़िल्म की पृष्ठभूमि और रंगमंच की पृष्ठभूमि को एक साथ देखना ज़रूरी होगा। जहाँ रंगमंच में चित्रित पृष्ठभूमि एक ठहरी हुई दुनिया की ओर ज़्यादा इशारा करती है, वहीं फ़िल्मों में यह पृष्ठभूमि ज़्यादा गतिशील और सौंदर्यपूर्ण बनकर उभरती है। रंगमंच में दर्शक पात्रों की मुद्राओं को देखते तो हैं लेकिन ख़ुद पात्रों के संसार से बाहर खड़े रहते हैं वहीं फ़िल्मों में दर्शक की दृष्टि पात्रों की दृष्टि बन जाती है। वे ख़ुद को आख्यान के स्पेस और समय में हलचल करती चीज़ों तथा पात्रों के बीच स्थित होकर देखने लगते हैं।

इस पहले रूप के बारे में बात करने के लिए हम 'दीवार' (यश चोपड़ा, 1974) का ज़िक्र करना चाहेंगे। फ़िल्म में दो भाइयों के बीच नैतिकता और व्यावहारिकता को लेकर एक बहस चलती है। फ़िल्म की समस्त पृष्ठभूमि में यह बहस तैरती रहती है। फ़िल्म का यह एक बहुत प्रसिद्ध दृश्य है। हालाँकि पात्रों के आपसी संबंध को बयान करने के लिए जो माहौल स्थापित किया गया है वह काफ़ी ठहरा हुआ है और दृश्य को प्रभावशाली बनाने के लिए ज़ूम शॉट्स और भारी-भरकम संवादों का सहारा लिया गया है। मजुमदार ने अपने विश्लेषण में बेंजामिन की उस अवधारणा को आधार बनाया है जिसमें बेंजामिन इतिहास की अग्रगामी गति में पिछली चीज़ों के छूट जाने का ज़िक्र करते हैं। इस संबंध में बेंजामिन का कहना है कि व्यक्ति अकसर छूटी

हुई चीज़ों को ख़ास महत्त्व देने लगता है और इन चीज़ों की स्मृति इतिहास की अनवरत धारा में कहीं खो जाती है।[5] इस बिंदु पर आकर आख्यान को कुछ देर के लिए रोक दिया जाता है और आख्यान एक स्थान की स्मृति का रूप धारण कर लेता है। दूसरे शब्दों में आख्यान की गति में यह क्षणिक अवरोध दरअसल वर्तमान की चौहद्दी से बाहर निकलने का प्रयास होता है।

प्रियदर्शन की फ़िल्म 'गर्दिश' (1994) में इस शहरी बेचैनी को मिज़ों-सेन के माध्यम से रुपायित करने का प्रयास किया गया है। फ़िल्म में शिवा (जैकी श्रॉफ़) का पीछा किया जा रहा है। फ़िल्म के खलनायक बिल्ला जिलानी के लोग उसका पीछा कर रहे हैं। दृश्य कुछ इस तरह का है कि सड़क पर ट्रैफ़िक थमा हुआ है और शिवा टैक्सियों की छतों के ऊपर दौड़ता जा रहा है। वह हत्यारों पर आत्मरक्षात्मक हमला भी करता रहता है, लेकिन अपनी जान बचाने के लिए ही। इस दृश्य में हम पात्रों और वस्तुओं को आपस में गुत्थम-गुत्था होते देखते हैं। यहाँ सही मायने में कहा जाए तो संवाद पात्रों और वस्तुओं के बीच होता दिखायी देता है। इस दृश्य में शहर का स्पेस पात्रों के अंदर अंतर्मुक्त है। यह उनके अस्तित्व का अहम हिस्सा बनकर सामने आता है। इस बात का मतलब यह नहीं है कि फ़िल्म का यह रूप किसी दूसरे रूप से बेहतर है, बल्कि यहाँ हुआ यह है कि शहरी जीवन के तत्वों को फ़िल्म की तकनीक में इस तरह गूँथ दिया गया है कि शहर का एक नया ही अनुभव आकार लेने लगता है।

शहर की आम ज़िन्दगी का चित्रांकन इन फ़िल्मों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू है। उदाहरण के लिए बारिश के मौसम में बंबई शहर का चित्रांकन। फ़िल्म 'अर्जुन' (राहुल रवैल, 1986) में एक दृश्य है जिसमें पूरी सड़क पर काली छतरियाँ ही दिखायी देती हैं। ये छतरियाँ बारिश में भीग रही हैं और उन पर पानी की एक ख़ास चमक है। जैसे ही ये अनगिनत छतरियाँ खुलती हैं हिंसा और मौत का माहौल बन जाता है। राहुल रवेल ने इस फ़िल्म में हिचकॉक की फ़िल्म 'फ़ॉरेन कॉरेस्पॉन्डेंट' से एक रूपक का सीधे-सीधे इस्तेमाल किया है।

'ज़ंजीर' (प्रकाश मेहरा, 1973) फ़िल्म में आए दृष्यजगत को देखें। इस फ़िल्म में रेलवे स्टेशन और रेल की पटरियों का ख़ास ढंग से इस्तेमाल किया गया है। यह दृश्य भीड़ से भरे एक शहर और उसके बाशिंदों की असुरक्षित ज़िन्दगी को बयान करता है। यह शहर में आसन्न एक ख़तरे की ओर संकेत करता है। वह दृश्य याद करें जिसमें एक अपराधी गिरोह के ख़िलाफ़ गवाही देने वाला आदमी रेल का डंडा पकड़ कर लटके हुए है। यह आदमी अचानक रेल से गिर पड़ता है। इस दृश्य में खलनायक की षडयंत्रकारी योजना दुर्घटना का पहले ही आभास देने लगती है। ट्रेन के इस दृश्य में खलनायक इस गवाह के हाथ पर जलती हुई सिगरेट दाग़ता दिखायी देता है और जैसे ही ये जलती हुई सिगरेट गवाह के हाथ को छूती है ट्रेन का डंडा उसके हाथ से छूट जाता है। यह दृश्य काफ़ी कुछ डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म की संरचना पर आधारित है। एक तरह से शहर के दैनिक जीवन में संभावना और हादसे को चित्रित करता है। प्रस्तुत दृश्य में खलनायक का क्लोज़अप दिखाया जाता है। बाद के दृश्य का दूसरा हिस्सा जिसमें ट्रेन का भीतरी स्पेस दिखाया गया है, स्टूडियो में फ़िल्माया गया है। लेकिन दृश्य में पात्र को इस ढंग से फ़िल्माया गया है कि वह दर्शक की पहले दृश्य से जनित संवेदना पर विशेष रूप से छाया रहता है।

रेल की पटरियाँ शहरी जीवन की अस्तित्वगत परिस्थितियों में लोगों की आसन्न बेदख़ली और इस जीवन की संक्रमणशीलता से मुख़ातिब कराती है। 'ज़ंजीर' का नायक एक पुलिसकर्मी है। उसे रेल की पटरियों के पास रहता दिखाया गया है। बाद में हम देखते हैं कि नायक को गुंडे पीट कर इन्हीं पटरियों पर अधमरा करके छोड़ देते हैं। यह प्रतीकात्मक पृष्ठभूमि एक समय

बाद पात्र के आंतरिक संसार से जुड़कर नए अर्थ और संदर्भ ग्रहण कर लेती है। इस संबंध में हम जे पी दत्ता की फ़िल्म 'हथियार' (1988) का उल्लेख कर सकते हैं। फ़िल्म का नायक अपने परिवार के साथ बंबई आता है। वह पटरियों के पास बसी एक झुग्गी में रहता है। एक दृश्य में नायक के माता-पिता पड़ोसियों से बात करते दिखाए गए हैं। इस दौरान यह पात्र रेल की पटरियों को देखता रहता है। इस पात्र की खोयी-खोयी निगाहें और व्यथित आत्म मिज़ों-सेन के ज़रिए आसपास के स्पेस को उपस्थित करता है।

सातवें दशक की फ़िल्मों ने अपना एक ख़ास मुहावरा गढ़ा। इन फ़िल्मों की शैली और पात्रों के बाह्य व आंतरिक स्पेस को चित्रित करने में फ़िल्मकारों ने हॉलीवुड के कुछ लोकप्रिय निर्देशकों जैसे कैप्रा और कजान की शैलियों का काफ़ी इस्तेमाल किया। इन फ़िल्मों में अंतर्राष्ट्रीय शैली की अनुगूँजें साफ़-साफ़ सुनी और देखी जा सकती है। अमेरिकी फ़िल्मों को इटली के सेरजियो लियोन जैसे निर्देशकों ने जिस ढंग से इतालवी संदर्भ में पुनर्रचित किया उससे भी सत्तर के दशक की फ़िल्मों को एक विशेष संदर्भ मिलता है। लेकिन जहाँ तक सिनेमा की तकनीक के विभिन्न उपकरणों या उनके इस्तेमाल की दक्षता का प्रश्न है वह काफ़ी हद तक हाल-फ़िलहाल की विरासत का हिस्सा ज़्यादा मालूम पड़ता है। 'गर्दिश' फ़िल्म में कैमरा स्थिर रहता है। इसी तरह रामगोपाल वर्मा की 'सत्या' (1998) में भी एक गैंग की आपसी लड़ाई को कैमरा काफ़ी सचेत ढंग से दिखाता है। 'सत्या' के इस दृश्य में एक भीमकाय क्रेन अपार्टमेंट की पूरी लंबाई-चौड़ाई को नापती दिखायी गयी है। इस दृश्य का संयोजन कुछ इस ढंग से किया गया है कि लिफ़्ट से बाहर निकलते गुंडों से दर्शक सीधे मुठभेड़ करते दिखायी दें। बाद में इस दृश्य में पात्र और कैमरा जैसे एक साथ चलने लगते हैं। यह एक ऐसा गतिशील दृश्य है जिसमें पात्रों का वर्तमान हमारे सामने घटता दिखता है। यह दृश्य एक टॉप एंगल शॉट पर जाकर ख़त्म होता है जहाँ हम नीचे सड़क पर गुंडों की भागमभाग को पूरे माहौल की व्यापकता में पैबस्त होकर देखते हैं। इस दृश्य का अंत एक रेलवे पुल पर होता है जहाँ भीखू और सत्या अपने विरोधी गुरु नारायण की जीवन लीला समाप्त कर देते हैं। दृश्य की पृष्ठभूमि में एक ट्रेन है जो नीचे से गुज़र रही है। यहाँ सिनेमा की तकनीक शहरी जीवन के रोज़मर्रापन को अंतर्राष्ट्रीय सिनेमा के आयामों में रख कर देखती है। इस दृश्य में पात्र और उनके ऐक्शन सामाजिक अनुभव के इलाक़े में एक फ़ंतासी-सी रचते प्रतीत होते हैं। यहाँ सिनेमा का अनुभव सिर्फ़ संदर्भजनित ही नहीं रह जाता बल्कि वह यथार्थ को और भी गाढ़े रूप में प्रस्तुत करने लगता है।

मैनाक बिश्वास इस बिंदु पर एक महत्त्वपूर्ण बात रखते हैं जिसका संबंध सिनेमा और शहर के संवेदना जगत से है। मैनाक यहाँ सिर्फ़ दैहिक अनुभव के बीच खाली तुलना नहीं करते बल्कि वे इन संवेदनाओं को आख्यान की संरचना गति और दृश्य की अवधि के अधीन रखकर देखने का आग्रह करते हैं। वे आवाज़ों, दृश्यों, गति और बाहरी संरचनाओं से पैदा होने वाली शहरी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी की ओर इशारा करते हैं।

सत्याभास/रिऐलिटी इफ़ेक्ट्स

बिश्वास का मानना है कि अस्सी के दशक के सिनेमा को सिर्फ़ यथार्थवाद की नज़र से देखना उसे व्याख्याहीन कर देना है। इसके लिए बिश्वास रिऐलिटी इफ़ेक्ट्स पद का इस्तेमाल करते हैं। वस्तु के आभास और स्पेस के आभास, आवाज़ और प्रवाह के संचार को व्यक्त करने के लिए वह सत्याभास का भी इस्तेमाल करते हैं। बिश्वास की बात का संदर्भ टेलीविज़न और उत्तर पूंजीवाद की वैश्विक छवियों का संसार है। वह अपनी बात उत्तर आधुनिक प्रतीक व्यवस्था के

धरातल पर रखते हैं। इस दलील के मुताबिक चीज़ों का अहसास सिर्फ़ बाहरी स्तर पर होता है वह आख्यान की गहराई से नहीं जूझता। लेकिन यहाँ यह देखना आवश्यक है कि इस प्रकार के प्रभाव स्थानीय और वैश्विक दर्शकों के लिए अलग-अलग मायने रखते हैं। उदाहरण के लिए फ़्राँस में सिनेमा 'ड्यू लुक' में आख्यान शैली के अधीन रहता है। कैसोवित्ज़ की फ़िल्म 'ला हेन' (नफ़रत, 1996) में जनजातीय उपनगरों में इन समूहों की निम्न स्थिति और संघर्ष एक दूसरे में तैरते-उतराते रहते हैं।

नब्बे के दशक में भारतीय फ़िल्म उद्योग में एक नयी प्रवृत्ति उभरती है। इस दौर को हम विदेशों में बसे भारतीय परिवारों के संदर्भ में रखकर देख सकते हें। मोनिका मेहता फ़िल्मों की इस श्रेणी को पारिवारिक प्रेम कथा[7] का नाम देती हैं। इन फ़िल्मों में जो स्पेस दर्शकों के सामने उपस्थित किया जाता है वह एक वैश्विक कल्पना का स्पेस है। 'परिन्दा', 'गर्दिश' और 'सत्या' जैसी फ़िल्में एक अलग ज़मीन और वस्तु-संसार से पैदा होती हैं। अमेरिका और ब्रिटेन में अरबन एक्शन फ़िल्मों का बाज़ार उतना बड़ा नहीं है हालाँकि इन फ़िल्मों में जो छवियाँ या दृश्य दिखाए जाते हैं उनका एक निश्चित वैश्विक संदर्भ है। इन फ़िल्मों में शहर को स्थानीय दृष्टिकोण से निहारा जाता है और शहर को देखने की यह नज़र अपने मूल में राष्ट्रीय कल्पना से उपजती है। इन फ़िल्मों के सत्याभास डाक्यूमेंट्री शैली का अनुसरण करते हैं। इस शैली की फ़िल्मों में कैमरे के लिए जो स्पेस गढ़ा जाता है वह मुख्य पात्रों से जुड़ी घटनाओं से एक हद तक अलग-थलग रहता है। दूसरे ढंग से कहें तो इस स्पेस की घटनाओं का अपना एक तर्क होता है जो मुख्य पात्रों से स्वायत्त होता है। इन फ़िल्मों में इस स्पेस की गति तभी भंग होती है जब एक ऐक्शन दृश्य घटनाओं के बीच से निकल कर शहर के रोज़मर्रापन के ढर्रे को एक तरफ़ कर देता है। यह सत्याभास यथार्थवादी प्रक्रिया के मुक़ाबले घटनाओं के स्पेस को और तीव्रता तथा सांद्रता के साथ प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए 'गर्दिश' फ़िल्म में बाज़ार में धोबी के स्थान को दिखाने के लिए कुछ ऐसी आवाज़ों का सहारा लिया जाता है जो पत्थर पर कपड़े पीटने से पैदा होती हैं। फ़्रेम में इस दृश्य को और गहरा करने के लिए पानी के फ़व्वारों को भी ऊपर उठते दिखाया जाता है।

'ला हेन' की तरह ही यहाँ हम एक अति यथार्थवादी रूप देखते हैं जिसमें वस्तुओं का अहसास रोज़मर्रा के यथार्थ से ज़्यादा गहरा और तीखा दिखायी पड़ता है। 'सत्या' के सत्याभास दर्शकों को एक ऐसी संवेदना के दायरे में खींचकर ले आते हैं जहाँ रोज़मर्रा की ज़िन्दगी और आतंक की दुनिया न केवल एक दूसरे से जुड़े हुए दिखने लगते हैं बल्कि कई बार एक दूसरे में आवाजाही भी करते दिखते हैं। 'सत्या' के एक टॉप ऐंगल शॉट में बंबई का एक भीड़-भरा बाज़ार दिखाया जाता है। यहाँ गुंडे सत्या को पीट रहे हैं और आसपास की भीड़ इस घटना के प्रति उदासीन दिखायी गयी है। भीखू, सत्या और उनके गैंग के लोग एक बेसमेंट में अपने विरोधी की पिटाई कर रहे हैं। इस दृश्य के दूसरे हिस्से में सत्या की प्रेमिका विद्या को दिखाया जाता है। यहाँ दृश्य का संयोजन कुछ इस तरह से किया गया है कि दर्शकों को इस बात का कोई अहसास नहीं होता कि अब क्या होने वाला है। स्थिर कैमरे से इस्तेमाल पात्रों की देह को फ़ोकस करने का काम वर्मा 'रात' (1991) में पहले भी कर चुके हैं और 'सत्या' में भी इस शैली का इस्तेमाल बख़ूबी किया गया है। कैमरे और पात्रों की देह पर विशेष ढंग से फ़ोकस करने के ज़रिए सत्या में शहर की भीतरी और बाहरी दुनिया को पकड़ने की कोशिश की गयी है। फ़िल्म में कैमरा जिस तरह से पात्रों का पीछा करता है उससे ज़ाहिर होता है कि व्यक्ति का निजी स्पेस भी किस क़दर असुरक्षित हो चला है। फ़िल्म के आंतरिक स्पेस को सामान्य ढंग के बजाय अति

यथार्थवादी ढंग से पेश करना और दर्शकों को इन स्थानों के साथ जोड़ देना आख्यान की शास्त्रीय रूढ़ियों का एक सार्वभौमिक हिस्सा रहा है। दो ऐसे स्पेस जो एक दूसरे से काफ़ी अलग दिखायी देते हैं उन्हें भी संचार की समकालीन तकनीक - मोबाइल फ़ोन के ज़रिए एक दूसरे से सटाकर दिखाया गया है।

इस बिंदु पर आकर हम देखते हैं कि समकालीन ऐक्शन फ़िल्मों में यथार्थवाद आज भी एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। ख़ास तौर पर इन फ़िल्मों में अभी भी समय और स्थान को हू-ब-हू या उससे भी ज़्यादा घनीभूत रूप से दिखाने की कोशिश की जाती है। 'सत्या' जैसी फ़िल्म में हॉलीवुड शैली का इस्तेमाल स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। हम यहाँ आख्यान के स्तर पर एक लगातार बनती निरंतरता से रू-ब-रू होते हैं। बम्बइया सिनेमा की लोकप्रिय शैली में नाटकीयता और अभिनेयता के अन्य पहलुओं का भी इस ढंग से इस्तेमाल किया जाता है कि वे फ़िल्म की पूरी संरचना पर असर डालने लगते हैं। हमें यहाँ इस बात पर लगातार ध्यान देना चाहिए कि भारतीय सिनेमा में स्पेस और परिवेश बहुस्तरीय और बहुआयामी होते हैं और वे अपनी समग्रता में दर्शक को शहर के कल्पनालोक में ख़ास ढंग से ले जाते हैं।

रविकांत 'सत्या' फ़िल्म के संदर्भ में एक गीत 'गोली मारो भेजे में' का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि इस गाने में लड़कों के हॉस्टल और बैचलर पार्टी का एक हास्यपूर्ण माहौल रचा गया है और यह माहौल एक तरह से दर्शकों को अपराधी गिरोह की दुनिया का आभास-सा देता प्रतीत होता है। 'सत्या' के कालू मामा यानी सौरभ शुक्ला जिन्होंने इस फ़िल्म की पटकथा भी लिखी है, यथार्थ को इस गाने और गाने में दिखाए गए समूह के ज़रिए फ़िल्म के आख्यान संसार से जोड़ते हैं। फ़िल्म की अपनी घटनाओं से बाहर के आख्यानों की ओर इशारा करते दृश्य 'सत्या' के बारे में एक नया कोण भी प्रदान करते हैं। यहाँ यथार्थ को ब्रेख़्तीय ढंग से नहीं देखा गया है न ही यहाँ मख़मलबफ़ की तकनीक का इस्तेमाल किया गया है जिसके तहत वे यथार्थ को सीधे-सीधे व्यक्ति के संवेदना जगत से जोड़कर देखते हैं। यहाँ वास्तव में फ़िल्म का आख्यान अपने एक अंदरूनी आवेग से तय होता चलता है।

शहरी बेचैनी को व्यक्त करने वाले इस समकालीन सिनेमा के बारे में मैं अपनी बात राजनीति के प्रश्न से समाप्त करना चाहूँगा। इन फ़िल्मों में राजनीतिक बदलावों की गूँज साफ़-साफ़ सुनी जा सकती है। मोहल्ले और पड़ोस की नज़दीकी के आधार पर और एक आम आर्थिक वंचना के माहौल में लोगों का एक साथ आकर कोई गैंग बना लेना इसी संदर्भ में देखे जाने चाहिए। बंबई में शिवसेना की राजनीति कुछ इसी तर्ज़ पर विकसित हुई है। एन चंद्रा की फ़िल्म 'अंकुश' (1986) में यह बात और भी साफ़ ढंग से देखी जा सकती है लेकिन अन्य फ़िल्मों में भी यह

परिघटना किसी न किसी रूप में दिखायी जाती रही है। बेकारी और नाउम्मीदी के हाशियों पर पलती ज़िन्दगी के ये विमर्श इस दौर में हिंदुत्व के राजनैतिक उभार और उसके राष्ट्रव्यापी प्रसार में देखे जा सकते हैं। उल्लेखनीय है कि 1990 में मंडल आयोग की रिपोर्ट लागू करने पर वी पी सिंह की सरकार को ऐसी ही शक्तियों से जूझना पड़ा था।

लेकिन राजनीतिक अनुभव को सिनेमा के ज़रिए व्यक्त करना शायद इससे ज़्यादा मुश्किल होता है। क्या हम राजनीतिक सवालों को आवाज़ों और छवियों की अंतर्क्रिया के द्वारा उठा सकते हैं। यानी क्या हम फ़िल्मों की इस शैली के माध्यम से राजनीतिक रुपांतरण के नक़्शों को पढ़ सकते हैं। मैं अपनी बात 'सत्या' के एक दृश्य से ख़त्म करना चाहूँगा। यह दृश्य राजनीतिक परिदृश्य के समकालीन रूपों में एक, सिनेमा, में रचे-बसे व्यक्ति के हस्तक्षेप के रूप में देखा जा सकता है। सत्या अपने साथी भीखू की हत्या का बदला लेने के लिए समुद्र के तट पर पहुँचता है और अवसर है गणेश चतुर्थी का। हिंदुत्व और शिवसेना की राजनीति में गणेश उत्सव एक ख़ास अहमियत रखता है। यह लगभग सौ वर्ष से चलता आ रहा उत्सव है। राष्ट्रीय आंदोलन में जनता को लामबंद करने के लिए भी इसकी एक कारगर भूमिका रही थी। भाऊ ठाकरे जिसने भीखू की हत्या की है और जो अब अपराधी से राजनेता बन गया है वह अपने दल-बल के साथ गणेश की मूर्ति का विसर्जन करने आया है। भीड़ में कैमरा सत्या को फ़ोकस करता है। उसके हाथ में चाकू है जिस पर उसने लाल कपड़ा लपेट रखा है। यह लाल कपड़े से ढँका हुआ चाकू आसपास चलती भीड़ में लगातार दिखता रहता है। कपोला की फ़िल्म 'द गॉडफ़ादर II' (1974) में भी एक ऐसा ही दृश्य है जिसमें वीटो कॉर्लियोन स्थानीय गैंग लीडर को मारने के लिए उत्सवी माहौल में मशगूल एक भीड़ से गुज़रता दिखाया जाता है। सत्या भाऊ ठाकरे पर कई वार करता है और उसे मार देता है। चारों तरफ़ फैली इस अफ़रा-तफ़री के माहौल में एक छवि ऐसी है जो हमारे ज़हन से हटने का नाम नहीं लेती। इस दृश्य में कैमरा गणेश की मूर्ति को एक ऊँचे कोण से देखता है। गणेश की मूर्ति लहरों पर हिलते-डुलते खलनायक की लाश को देखती है। खलनायक के साथी और उसका दल-बल इस जगह से निकल जाता है और पूरे माहौल में इस खलनायक की प्रमुखता शून्य हो जाती है। लहरों पर डूबती-उतराती उसकी लाश और मूर्ति की लोकोत्तर उपस्थिति को कैमरा एक सांस्कृतिक क्षण की तरह गढ़ने लगता है। और दर्शक फ़िल्म द्वारा पैदा किए गए इस संवेदना प्रवाह में बहने लगते हैं। स्क्रीन और दर्शक के बीच खड़ी की गयी यह स्थिति समकालीनता में हस्तक्षेप का रूप ले लेती है। यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ एक तरह का राजनैतिक दृश्य एक दूसरे प्रति दृश्य के साथ संयुक्त होने लगता है।

(नवंबर-दिसंबर 2001 में सराय में एक वर्कशॉप आयोजित की गयी थी। यह आलेख वर्कशॉप में हुई बहस-मुबाहिसे की इस कड़ी का ही अंग है। मोइनक बिश्वास, रविकांत, इरा भास्कर और जीवेश बागची ने अपनी बात लिखित रूप में नहीं रखी थी। यहाँ उनके द्वारा बातचीत के दौरान गयी दलीलों और नुक़्तों को शामिल किया गया है।)

नोट्स

1. शोहिनी घोष, "स्ट्रीट्स ऑफ़ टेरर : अरबन एंग्जाइटीज़ इन द बांबे सिनेमा ऑफ़ दि नाइंटीज़", सराय-सीएसडीएस द्वारा 29 नवंबर से 1 दिसंबर 2001 तक आयोजित वर्कशॉप 'द एग्ज़ीलरेशन ऑफ़ ड्रेड' के अवसर पर पढ़ा गया पर्चा।

2. रूइन एंड दि अनकैनी सिटीः मेमेरी, डिस्पेयर ऐंड डेथ इन 'परिन्दा सराय रीडर 02

3. ललिता गोपालन, ए सिनेमा ऑफ़ इंटरप्शन, पांडुलिपि।

4. रंजनी मजुमदार, 'अरबन एलेगरीज़ः द सिटी इन बॉम्बे सिनेमा 1970-2000' पीएचडी शोध प्रबंध, (न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी, 2001)

5. मोनिका मेहता, सलेक्शंसः कटिंग, क्लासिफ़ाइंग ऐंड सर्टिफ़ाइंग इन बॉम्बे सिनेमा, पीएचडी (यूनिवर्सिटी ऑफ़ मिनेसोटा, 2001)

अनुवादः नरेश गोस्वामी